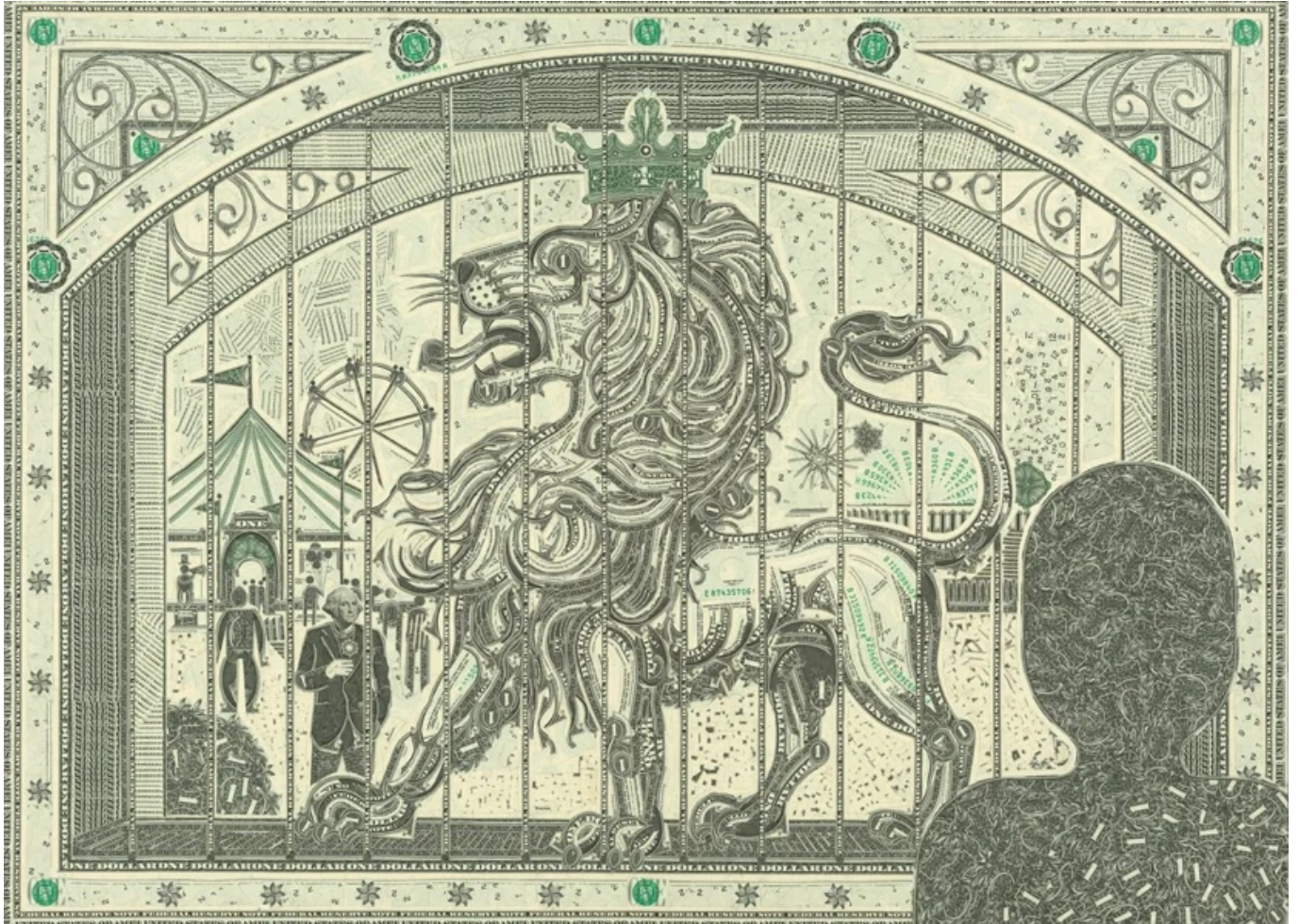


अमेरिकी डॉलर को अलविदा : तीसवाँ न्यूज़लेटर (2026)



फ्रिट फ़ॉर अ किंग, मार्क वैग्नर (अमेरिका) तिथि अज्ञात

प्यारे साथियो,

ट्राईकॉन्टिनेंटल : सामाजिक शोध संस्थान की ओर से अभिवादन ।

इतिहास में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जब कोई व्यवस्था इतनी सर्वव्यापी और अटूट प्रतीत होती है कि उसके अंत की कल्पना करना भी कठिन लगने लगता है। जब ब्रिटेन का समुद्री दुनिया पर एकछत्र राज था, तब दुनिया के बड़े हिस्से में यह विश्वास था कि पाउंड स्टर्लिंग केवल एक मुद्रा नहीं, बल्कि वैश्विक व्यापार की स्वाभाविक भाषा है। बीसवीं सदी के मध्य से संयुक्त राज्य अमेरिका (यूएस) ने भी अमेरिकी डॉलर को लगभग उसी दृष्टि से देखा। 1980 में, ब्रेटन वुड्स व्यवस्था के बाद पैदा हुए संकट के दौर में अर्जेन्टीना के अर्थशास्त्री राउल प्रेबिश ने लिखा था कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वशक्तिमान डॉलर का भ्रम छाया हुआ था।' लेकिन तब तक यह भ्रम केवल अमेरिका तक सीमित नहीं रह गया था।

डॉलर दुनिया की प्रमुख आरक्षित मुद्रा (रिज़र्व करेंसी) बन चुका था और अंतरराष्ट्रीय व्यापार में सबसे अधिक इस्तेमाल की जाने वाली मुद्रा भी। अब यह भ्रम धीरे-धीरे और असमान गति से टूटने लगा है।

हमारा नवीनतम डोसियर *The Architecture of Power: The Dollar, Financialisation, and the Struggle for Sovereignty* (सत्ता की संरचना : डॉलर, वित्तीयकरण और संप्रभुता का संघर्ष) यह बताता है कि डॉलर केवल एक मुद्रा नहीं है, बल्कि साम्राज्यवादी शक्ति का एक संस्थागत औज़ार है। डॉलर-व्यवस्था वैश्विक व्यापार को संगठित करती है, ऋण तक पहुँच को नियंत्रित करती है, सरकारों पर अनुशासन थोपती है, युद्धों के वित्तपोषण का साधन बनती है और वैश्विक उत्तर तथा वैश्विक दक्षिण के बीच मौजूद असमान शक्ति-संबंधों को बनाए रखती है। इसलिए डॉलर पर बहस का मुद्दा केवल यह नहीं है कि डॉलर की जगह रेनमिन्बी (आरएमबी) या यूरो जैसी किसी दूसरी मुद्रा को प्राथमिकता दी जाए। असली प्रश्न यह है कि क्या मानवता ऐसी अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का निर्माण कर सकती है, जिसका उद्देश्य प्रभुत्व कायम करना नहीं, बल्कि विकास को बढ़ावा देना हो।



हाल के वर्षों में इस प्रश्न का बहुत जल्दबाज़ी में उत्तर देने की प्रवृत्ति रही है। डॉलर के बजाय रेनमिन्बी (आरएमबी) में होने वाला हर द्विपक्षीय व्यापारिक समझौता, ब्रिक्स+ द्वारा स्थानीय मुद्राओं में व्यापार संबंधी हर घोषणा, या केंद्रीय बैंकों द्वारा सोने की खरीद में होने वाली हर वृद्धि को इस दावे के साथ पेश किया गया कि डी-डॉलराइज़ेशन (डॉलर पर निर्भरता का अंत) शुरू हो चुका है। ये सुर्खियाँ आकर्षक ज़रूर हैं, लेकिन वास्तविकता इससे कहीं अधिक जटिल है। हमारे डोसियर की सबसे बड़ी विशेषताओं में से एक यह है कि वह राजनीतिक आकांक्षाओं और आर्थिक यथार्थ को एक-दूसरे का पर्याय मानने की भूल नहीं करता।

साथ ही, एक गहरा बदलाव भी आया है। यूएस ने डॉलर को विनिमय के एक साधन से आगे बढ़ाकर, लगातार दबाव और

डॉलर आज भी विश्व अर्थव्यवस्था पर इसलिए हावी नहीं है कि यूएस दुनिया की अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन करता है—वह ऐसा नहीं करता। न ही इसलिए कि वैश्विक व्यापार का अधिकांश हिस्सा उसी के खाते में आता है—वह भी नहीं। बल्कि डॉलर का प्रभुत्व इसलिए कायम है कि पूरी अंतरराष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था उसी के इर्द-गिर्द निर्मित है, और पीढ़ियों के दौरान विकसित हुए वित्तीय बाजारों ने उसके पक्ष में अत्यंत शक्तिशाली नेटवर्क प्रभाव (network effects) पैदा कर दिए हैं। इसलिए रिज़र्व मुद्रा को केवल विनिमय के एक माध्यम के रूप में नहीं समझा जा सकता। रिज़र्व मुद्राएँ केवल विनिमय का माध्यम नहीं होतीं। वे मूल्य-संचय का साधन, लेखा-इकाई, लेन-देन के निपटान का माध्यम और उन विशाल वित्तीय बाजारों की बुनियाद भी होती हैं, जिन पर पूरी वैश्विक वित्तीय व्यवस्था टिकी होती है। सरकारें डॉलर इसलिए अपने पास रखती हैं क्योंकि दूसरी सरकारें भी डॉलर का इस्तेमाल करती हैं, और बैंक डॉलर में ऋण इसलिए देते हैं क्योंकि उधार लेने वालों को विश्वास होता है कि वे उसका भुगतान भी डॉलर में ही करेंगे। जैसा कि यह डोसियर विस्तार से दिखाता है, अमेरिकी अर्थव्यवस्था का वैश्विक आर्थिक महत्त्व लगातार घटने के बावजूद, वस्तुओं की कीमत तय करने, विदेशी मुद्रा लेन-देन, देशों के आधिकारिक विदेशी मुद्रा भंडार और अंतरराष्ट्रीय व्यापार वित्तपोषण में डॉलर की हिस्सेदारी अब भी सबसे अधिक बनी हुई है। यही विरोधाभास—एक ओर यूएस की उत्पादन-क्षमता का वैश्विक महत्त्व लगातार घटना और दूसरी ओर डॉलर का विश्व वित्तीय व्यवस्था के केंद्र में बने रहना—डी-डॉलराइजेशन की बहस को इतना अहम और प्रासंगिक बना देता है।

इक्कीसवीं सदी में औद्योगिक उत्पादन और आर्थिक गतिविधियों का बड़ा केंद्र अब उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र के बजाय एशिया बन चुका है, लेकिन वैश्विक वित्तीय व्यवस्था अब भी वॉल स्ट्रीट के इर्द-गिर्द संगठित है। दूसरे शब्दों में, उत्पादन और वित्त अब अलग-अलग भौगोलिक केंद्रों से संचालित हो रहे हैं, और यह असंतुलन अपने-आप समाप्त नहीं होने वाला। उदाहरण के लिए, हांगकांग में एक स्वर्ण-भंडार (गोल्ड वॉल्ट) की स्थापना यह दिखाती है कि एशिया में सोने के भंडारण और उसके व्यापार से जुड़ा बनियादी ढाँचा तेज़ी से विकसित हो रहा है। लेकिन केवल ऐसे विकास अपने-आप

किसी नई अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था को जन्म नहीं दे देते। जिस तरह ब्रिटेन की औद्योगिक श्रेष्ठता समाप्त होने के बहुत बाद तक भी वह दुनिया का प्रमुख वित्तीय केंद्र बना रहा, उसी तरह विनिर्माण में अपनी हिस्सेदारी के तेज़ी से घट जाने के बावजूद यूएस आज भी डॉलर के वैश्विक प्रभुत्व के कारण उस 'अत्यधिक विशेषाधिकार' का लाभ उठाता है। इसलिए निर्णायक प्रश्न यह नहीं है कि डॉलर-व्यवस्था पतन की ओर बढ़ रही है या नहीं—वह बढ़ रही है। असली सवाल यह है कि उसकी जगह वास्तविक रूप से कौन-सी व्यवस्था ले सकती है।



फिर भी डॉलर के बाद की व्यवस्था की ओर संक्रमण केवल आर्थिक शक्ति-संतुलन में बदलाव से नहीं होगा; इसके लिए नई संस्थाओं के निर्माण और नई संस्थागत संरचनाओं के विकास की भी आवश्यकता होगी। अपने हालिया शोध-पत्र *Geopolitics and International Money – A Path to a New Reserve Currency* (भूराजनीति और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा : नई रिज़र्व मुद्रा की ओर एक राह) में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) के पूर्व कार्यकारी निदेशक और न्यू डेवलपमेंट बैंक के पूर्व उपाध्यक्ष पाउलो नोगेइरा बतीस्ता जूनियर यह प्रश्न उठाते हैं कि डॉलर-व्यवस्था का वास्तविक विकल्प खड़ा करने के लिए कैसी संस्थागत संरचना विकसित करनी होगी। नोगेइरा बतीस्ता का तर्क है कि रेनमिन्बी (आरएमबी) केवल डॉलर की जगह ले लेगी—ऐसा न तो होने की संभावना है और न ही यह वांछनीय होगा। चीनी सरकार की ऐसे किसी कदम में बहुत कम रुचि है, क्योंकि इसके लिए पूँजी खाते (कैपिटल अकाउंट) का कहीं अधिक उदारीकरण करना पड़ेगा, जिससे पूँजी का चीन में आना-जाना अधिक स्वतंत्र हो जाएगा। इससे देश अस्थिर करने वाले वित्तीय प्रवाहों के प्रति अधिक संवेदनशील हो सकता है, रेनमिन्बी (आरएमबी) का मूल्य बढ़ सकता है, चीनी निर्यात महँगे हो सकते हैं और वही उत्पादक बढ़त कमज़ोर पड़ सकती है, जिसने चीन के विकास को संभव बनाया है। चीनी अर्थशास्त्री यू योंगडिंग ने आरएमबी के अंतरराष्ट्रीय उपयोग का दायरा बढ़ाने के लिए कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव दिए हैं, जिनमें ब्रिक्स+ के भीतर डी-डॉलराइजेशन पर चल रही बहस के संदर्भ में रखे गए सुझाव भी शामिल हैं। लेकिन इन प्रस्तावों का उद्देश्य भी अमेरिकी मौद्रिक वर्चस्व की जगह चीनी मौद्रिक वर्चस्व स्थापित करना नहीं है।

पिछले एक दशक के दौरान द्विपक्षीय और बहुपक्षीय मुद्रा-निपटान (करेंसी सेटलमेंट) प्रणालियों का तेज़ी से विस्तार

हुआ है। इनमें 2014 में रूस द्वारा विकसित फ़ाइनेंशियल मैसेजिंग सिस्टम (SPFS), 2015 में शुरू की गई चीन की क्रॉस-बॉर्डर इंटरबैंक पेमेंट सिस्टम (CIPS), 2018 में इंडोनेशिया, मलेशिया और थाईलैंड के बीच स्थापित स्थानीय मुद्रा में भुगतान की व्यवस्था, ऐसे केंद्रीय बैंक समझौते जिनके तहत ज़रूरत पड़ने पर देश एक-दूसरे की मुद्राओं तक पहुंच बना सकते हैं, तथा गज़प्रोमबैंक K अकाउंट्स जैसे विशेष खाते शामिल हैं, जिनके माध्यम से कुछ अंतरराष्ट्रीय भुगतान डॉलर-आधारित चैनलों को दरकिनार करके किए जा सकते हैं। हालाँकि ये व्यवस्थाएँ अभी तक डॉलर-व्यवस्था का विकल्प नहीं बन सकी हैं, फिर भी वे उस बुनियादी वित्तीय ढाँचे का हिस्सा हैं, जिसके आधार पर भविष्य में एक नई वैश्विक वित्तीय व्यवस्था उभर सकती है।

नोगेइरा बतीस्ता इससे भी अधिक महत्वाकांक्षी योजना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, वैश्विक दक्षिण के देशों के एक गठबंधन को मिलकर धीरे-धीरे एक नई आरक्षित परिसंपत्ति (रिज़र्व एसेट) का निर्माण करना चाहिए। इसे एक नई अंतरराष्ट्रीय संस्था का समर्थन प्राप्त हो और इसे घरेलू लेन-देन के लिए नहीं, बल्कि केवल अंतरराष्ट्रीय भुगतान और विदेशी मुद्रा भंडार के रूप में इस्तेमाल करने के उद्देश्य से विकसित किया जाए। ऐसी मुद्रा राष्ट्रीय मुद्राओं का स्थान नहीं लेगी, बल्कि एक साझा रिज़र्व साधन के रूप में काम करेगी, जो डॉलर पर निर्भरता कम करने में सक्षम हो। जैसा कि हमारे डोसियर का तर्क है, डॉलर के विकल्प के रूप में ऐसी संस्थागत व्यवस्थाओं का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वे तुरंत एक मौद्रिक व्यवस्था की जगह दूसरी व्यवस्था स्थापित कर दें। उनका वास्तविक महत्त्व उन टिकाऊ संस्थागत और वित्तीय ढाँचों के निर्माण में है, जो मानवता को प्रभुत्वकारी व्यवस्था से मुक्त करने की प्रक्रिया को अधिक सशक्त बना सकें।



फिर भी केवल नई संस्थाओं का निर्माण इस गहरे प्रश्न का पूरा उत्तर नहीं है। डॉलर-केंद्रित व्यवस्था के कमज़ोर पड़ने से जो चुनौती सामने आती है, वह केवल नई रिज़र्व मुद्रा बनाने या नई भुगतान-व्यवस्था विकसित करने तक सीमित नहीं है। मूल समस्या केवल मौद्रिक नहीं, बल्कि विकास से जुड़ी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जिन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं का गठन हुआ, उन्होंने वैश्विक वित्तीय व्यवस्था को इस तरह संगठित किया कि उसका मुख्य उद्देश्य उत्पादन में परिवर्तन और औद्योगिक विकास के बजाय संपत्ति की रक्षा करना था। इस व्यवस्था ने सट्टेबाज़ी को प्रोत्साहित किया, जबकि

पूर्व उपनिवेश रहे देशों के बड़े हिस्से में औद्योगिकीकरण की संभावनाओं को सीमित कर दिया। इसलिए किसी नई अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए कि वह विनिमय दरों में कितनी स्थिरता ला सकती है। उसकी असली कसौटी यह होनी चाहिए कि वह संरचनात्मक परिवर्तन, तकनीकी उन्नयन, खाद्य संप्रभुता, पारिस्थितिक संक्रमण और सम्मानजनक रोज़गार के लिए वित्त उपलब्ध कराने में कितनी सक्षम है। पूँजी नियंत्रण, विकास बैंक, भुगतान प्रणालियाँ और रिज़र्व परिसंपत्तियाँ—इन सबका उद्देश्य वित्तीय दावों और संपत्ति के संचय को बढ़ाना नहीं, बल्कि उत्पादन क्षमता का विस्तार करना होना चाहिए। इस अर्थ में डॉलर-प्रधान व्यवस्था का उत्तराधिकारी केवल एक अंतरराष्ट्रीय मुद्रा की जगह दूसरी मुद्रा स्थापित करके अपना काम पूरा नहीं कर सकता। उसे वित्तीय व्यवस्था को विकास की एक व्यापक संरचना के भीतर समाहित करना होगा, ताकि अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग साझा समृद्धि, संप्रभु विकास और वैश्विक असमानताओं को कम करने का माध्यम बन सके।



हमारी दुनिया में धन (मुद्रा) का इतना केंद्रीय महत्त्व इसलिए है कि जीवन के अधिकांश पहलुओं को वस्तु (कमोडिटी) में बदलकर पूँजीवादी बाज़ार के अनुशासन के अधीन कर दिया गया है। पानी बोतलों में बिकता है, हवा भी वातानुकूलित होकर खरीदी जाती है, और वस्तु-विनिमय (बार्टर) की पुरानी यादें अब आर्थिक व्यवहार के हाशिये तक सिमट गई हैं। डॉलर हमारे ऊपर एक छाया की तरह मंडराता है, और उसके पीछे यूएस की विशाल सैन्य शक्ति तथा अपनी मुद्रा के प्रभुत्व की रक्षा के लिए उस शक्ति का इस्तेमाल करने की राजनीतिक इच्छा मौजूद है। जब वॉशिंगटन इरविंग ने 1837 में अपनी रचना 'द क्रियोल विलेज' (The Creole Village) में 'सर्वशक्तिमान डॉलर' का प्रयोग किया था, तब यह अभिव्यक्ति अपने समय से आगे की थी। लेकिन आज के दौर में यह लगभग स्वाभाविक और निर्विवाद सत्य जैसी लगने लगी है। प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध वैश्विक दक्षिण के देशों की संपदा डॉलर के रूप में बाहर चली जाती है और फिर ऋण बनकर वापस लौटती है। दूसरी ओर, लंदन और न्यूयॉर्क जैसे धन के मायावी नगर दुनिया की सामाजिक संपदा की चमक से जगमगाते रहते हैं।

फिर भी, जैसा कि हमारा डोसियर बताता है, इस व्यवस्था में अब जगह-जगह दरारें दिखाई देने लगी हैं। हमारा उद्देश्य

डी-डॉलराइजेशन की वास्तविक स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना नहीं है। हम यह दिखाना चाहते हैं कि डॉलर-प्रधान व्यवस्था आज भी किस तरह काम कर रही है, किन मायनों में वह कमज़ोर हुई है और इसके बावजूद उसकी संरचनात्मक शक्ति अब भी क्यों बनी हुई है।

सस्नेह,

विजय